संजीव के उपन्यासों में आदिवासी समाज

डॉ० रामयज्ञ मौर्य
एसोसिऐट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
मेरठ कॉलेज, मेरठ

दीपक तिवार्री
शोधार्थी, हिंदी विभाग
मेरठ कॉलेज, मेरठ

सारांश

आज हिंदी कथा जगत में 'संजीव' एक बड़ा नाम है। इनका सृजन–संसार इनसे भी बड़ा और व्यापक है। सुल्तानपुर जनपद के 'बाँगर कला' गाँव में एक सामान्य गरीब परिवार में जन्में 'संजीव' का जीवन संघर्षों से भरा रहा। संजीव जिस परिवेश में रहे वहाँ गरीबों, दलितों, मजदूरों तथा आदिवासियों आदि विपन्न वर्गों का तरह–तरह से शोषण होता रहा। संजीव ने इसे करीब से देखा–परखा–भोगा है। यही कारण है कि उनका कोमल रचनाधर्मी हृदय शोषित–दमित लोगों की पीड़ा देखकर द्रवित होता है और यही पीड़ा उनके सम्पूर्ण कथा साहित्य में परिलक्षित होती है। इनके अधिकांश कहानियाँ और उपन्यास इन्हीं परिपीड़ितजनों की गाथा है। अपने पहले उपन्यास 'किसनगढ़ के अहेरी' से लेकर अब तक सृजित अधिकांश उपन्यासों का वर्ण्य विषय अपने हक की माँग उठाते, अनेक प्रकार के शोषण व अत्याचारों को झेलते, जल–जंगल–जमीन के अधिकार से लगातार वंचित किए जाते गरीब–मजदूर–आदिवासी समाज केन्द्र में रहा है। उपन्यास 'धार' में पूँजीपतियों, ठेकेदारों द्वारा कोयला खदानों में आदिवासी मजदूरों का आर्थिक शोषण होते दिखाया गया है। इनके उपन्यास 'जंगल जहाँ शुरू होता है' में मजबूरन हकों से वंचित किए गए आदिवासी युवाओं को अपहरण, डकैती जैसे जघन्य अपराध में लिप्त होना पड़ता है। 'पाँव तले की दूब' में जिस प्रकार आदिवासी मजदूरों के जी–तोड़ श्रम का उचित फल नहीं मिलता, उसका फल अपने आप को सभ्य कहने वाला समाज, पूँजीपति, ठेकेदार और सरकारी अफसर हड़प कर जाते हैं, कमोवेष स्थितियाँ आज भी वैसी नजर आती हैं। संजीव जी ने अपने उपन्यासों में आदिवासी समाज की विषम परिस्थितियों का बड़ी बेबाकी से बखूबी

शोध पत्र का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार हैः

डॉ० रामयज्ञ मौर्य,
दीपक तिवारी,

''संजीव के उपन्यासों में आदिवासी समाज''
शोध मंथन,
सितम्बर 2017,
पेज सं0 222–228
http://anubooks.com/?page_id=581
Artcile No. 32

सजीव और षोधपरक चित्रण किया है। वे मानते हैं कि किसी देश का पूर्ण विकास तभी सम्भव है जब हासिए पर पड़े समाज का समुचित विकास हो।

हमारा देश भारत वर्ष विविधताओं से भरा है और यह विविधता न केवल भौगोलिक बल्कि सामाजिक भी है। यहाँ अनेक जाति, धर्म, भाषा, संप्रदाय के लोगों के साथ–साथ कई जनजातियाँ भी निवास करती हैं। इन्हीं जनजातियों में से एक प्रमुख जनजाति आदिवासी जनजाति अति प्राचीन काल से देश के दूर–दराज, जंगली व पहाड़ी इलाकों में रहती आ रही है। ऐसा माना जाता है कि यही जनजातियाँ भारत की मूल निवासी हैं और आर्यों के आगमन के पूर्व इनका भारतीय इलाकों पर प्रभुत्व था, परन्तु आर्यों के साथ कई युद्धों में परास्त होने के बाद इनमें से कुछ ने दूर–दराज जंगलों व पहाड़ों में शरण ली। यही लोग आदिवासी कहलाए तथा जो मैदानी इलाकों में रह गए दास कहलाए। आदिवासी शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है आदि + वासी अर्थात् आदिकाल से निवास करने वाला। भारतीय संस्कृति कोश के अनुसार, "आर्य एवं द्रविड़, भारत के इन दो मानव समाज को छोड़कर इनसे भी पूर्व भारत में रहने वाले अथवा दूसरे देश से आकर वन पर्वत के आश्रय में निवासी जातीय समूह को वन्य जाति अथवा आदिवासी कहा जाता है।"[1]

इसी प्रकार डॉ० रिव्हर्स कहते हैं कि, "जनजाति अर्थात् ऐसा सामाजिक समूह जिसकी एक सामान्य भाषा रहती है और वह सामान्य उद्देश्यों के लिए संघटित रूप से कार्य करता है।"[2]

आदिवासी जनजीवन के विषय में डॉ० गोरख नाथ तिवारी लिखते हैं कि "सम्पूर्ण मनुष्य का एक विभाग उन लोगों का भी है जो सभ्यता की दौड़ में बहुत पीछे छूट गए हैं। उन्हें आदिवासी कहा जाता है।"[3]

आज जब दुनिया इक्कीसवीं सदी में जी रही है तब भी ये आदिवासी आदिम काल में जीने को मजबूर हैं। वे हर आधुनिक सुख–सुविधाओं से वंचित हैं। कोई भी सरकारी विकास कार्य और योजनाएँ इनके द्वार तक नहीं पहुँचती। इसका मुख्य कारण इनका अशिक्षित होना भी है। इन्हें अपने अधिकारों की कोई जानकारी नहीं है। आदिवासियों की योजनाओं के बहाने इन योजनाओं को लागू करने वाले अधिकारी व नेतागण अपना ही उल्लू सीधा करते हैं। वे अपनी ही जेब भरने में लगे रहते हैं। उन्हें इनके उत्थान की कोई चिंता नहीं होती। सरकार और पूँजीपति वर्ग विकास के नाम पर इनके जल, जंगल, जमीन पर भी कब्जा करते जा रहे हैं। जबकि ये ही जंगल के सच्चे रखवाले हैं। सदियों से जंगल ही इनका घर रहा है। वहाँ वे अपने समाज, जीवन–शैली, रीति–रिवाज, धर्म, कर्म को मानते हुए अपने आप में खुश थे। ये सीधे–सीधे सरल स्वभाव के थे। बाहरी दुनियाँ से इन्हें कुछ लेना–देना नहीं था, परन्तु आज जब बाहरी दुनियाँ के लोग इनके इलाकों में प्रवेश करने लगे और इनका तरह–तरह से शोषण करने लगे तो अब इनके अस्तित्व पर ही खतरा मँडराने लगा है। अब इनकी समस्याओं की तरफ कुछ साहित्यकारों का ध्यान गया है और वे अपने साहित्य के माध्यम से इनकी आवाज सबके सामने रखने लगे हैं। ऐसे ही साहित्यकारों में संजीव का नाम महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने कथा साहित्य में आदिवासियों की पुरजोर वकालत की है। बीसवीं सदी का अंतिम दशक तो अनेक

विमर्शों की जन्मदात्री रही है। इस दशक में दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि को लेकर उपन्यासों की रचना होने लगी। वृहद हिंदी कोश में विमर्श शब्द के कई अर्थ प्राप्त होते हैं। यथा– परीक्षण, विवेचन, विचार, समीक्षा, परीक्षण, गुण–दोशों का विवेचन, परामर्श इत्यादि। इस तरह विमर्श का अर्थ हुआ, किसी बात पर विचार करना, उसके बारे में परामर्श देना या विवेचन करना। अतः साहित्य के क्षेत्र में विमर्श का अर्थ स्थापित हुआ कि सदियों से हासिए पर खड़ी स्त्री, दलित वर्ग, पिछड़ी जातियाँ, जनजातियाँ और आदिवासी वर्ग साहित्यकारों और विद्वानों के बीच चर्चा के केन्द्र बनें। 'संजीव' के तो कई उपन्यास आदिवासियों के दशा–दिशा पर ही केन्द्रित हैं।

प्रेमचंद और रेणु की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए विविध अनछुए विषयों पर शोध परक लेखन तथा दलित, दमित आदिवासियों की आवाज बनने वाले आधुनिक लेखकों में संजीव का स्थान सर्वोपरि है। हम देखते हैं कि संजीव का संपूर्ण कथा साहित्य विविधताओं से भरा है। संजीव ने अपने उपन्यासों व कहानियों में अनेक ऐसे विषयों को उठाया है जहाँ पर सामान्यतया अन्य लेखकों का ध्यान नहीं गया। उनके उपन्यासों में दलितों, गरीबों, स्त्रियों, मजदूरों, सर्कस नटों, कोयला खदानों के मजदूरों तथा आदिवासियों आदि की समस्याओं, उनकी दारूण दशाओं, सामाजिक स्थितियों का यथार्थ चित्रण मिलता है। वे किसी भी उपन्यास को लिखने से पहले उन स्थानों पर जाकर उन लोगों से मिलकर, उन पर गहरा शोध किया है, जो अन्य लेखकों के लेखन में दुर्लभ दिखता है। उन्होंने 'सर्कस' उपन्यास लिखने से पहले सर्कसों में जाकर उसमें काम करने वाले स्त्री, पुरुषों से दोस्ती गाँठी और कई दिनों तक साथ रहकर उनके रहन–सहन और समस्याओं को करीब से जाँचा परखा। इसी तरह जंगल जहाँ से शुरू होता है और धार जैसे उपन्यास लिखने के लिए संजीव ने जंगलों, बीहड़ों तथा दूर–दराज के आदिवासी इलाकों का कई दिनों तक भ्रमण किया। आदिवासियों की जीवन–शैली व समस्याओं पर गहन शोध किया। यही कारण है कि संजीव के उपन्यास यथार्थ के धरातल पर खरे दिखते हैं। डॉ० गिरीश काशिद से साक्षात्कार में संजीव कहते हैं कि, "खोज का काम तो मेरा शुरू से रहा है। बिना शोध और संधान के मुझे लगता है कि मैं लिख नहीं पाऊँगा।"[4]

संजीव अपने उपन्यास 'धार' जो 1990 ई० में प्रकाशित हुआ था के माध्यम से आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र संथाल परगना के वॉसवाड़ क्षेत्र की समस्याओं को उजागर किया है। इस उपन्यास में यहाँ के कोयला खदानों में काम करने वाले आदिवासी मजदूरों के दयनीय दशा का यथार्थ चित्रण मिलता है। इस कोयलांचल में रहकर काम करने वाले मजदूर परिवार खानों में निकलने वाली जहरीली हवा, खदानों के कमजोर होकर धँसने तथा कभी–कभी खदानों में जलभराव के कारण असमय काल के गाल में समा जाते हैं। बदले में उन्हें ठीक से दो जून की रोटी भी नहीं मिल पाती है। 'धार' उपन्यासकार यहाँ दिखाते हैं कि किस तरह पूँजीपति, बिचौलिए तथा अवैध खनन माफियाओं का यहाँ आतंक है। वे तरह–तरह से इन भोले–भाले आदिवासियों का शोषण करते हैं। उद्योगपति महेन्द्र बाबू आदिवासी इलाके में अपना तेजाब का कारखाना लगवाते हैं, जिसके कारण यहाँ स्थित कुँए, तालाब तथा जलाशयों का जल अत्यन्त दूषित हो जाता है जो यहाँ के आदिवासियों के लिए एक गंभीर समस्या बन जाता है, किन्तु वे अपने फायदे के लिए इसकी ओर कोई ध्यान नहीं देते। इसी व्यथा को मैना व्यक्त करते हुए कहती है, "खेत, खतार,

पेड़, रूख, कुँआ, तालाब हम और हमारा बाल–बच्चा तक आज तेजाब में गल रआ है, भूख में जल रआ है। पहले हम चोरी का चीज है नई जानता था, भीख कब्भी नई माँगा, चुगली–दलाली कब्भी नई किया, इज्जत कब्भी नई बेचा, आज हम सब करता।"[5]

'मैना' जो इस उपन्यास की मुख्य पात्र है, अनपढ़ आदिवासी महिला है। वह शोषण के खिलाफ आवाज उठाती है। वह फैक्ट्री को बन्द कराने के लिए तथा मजदूरों, शोषितों को शोषण से बचाने हेतु संगठित होने के लिए जागरूक करती है। कुछ हद तक वह सफल भी होती है। उपन्यासकार यहाँ दिखाना चाहता है कि धीरे–धीरे ही सही अब आदिवासी समाज में जागरूकता आ रही है। वे अब अन्याय, शोषण के खिलाफ यदा–कदा आवाज उठाने लगे हैं और यह उनके विकास के लिए एक अच्छा लक्षण है। वे एकता की शक्ति को पहचानने लगे हैं। इसी बात को इस उपन्यास में अविनाश शर्मा आदिवासियों को शोषण के खिलाफ एकजुट व जागरूक होने के लिए कहते हैं, "तो साथियों, यह धार हमारी शक्ति है और धार का भोथरा होना ही मौत... धार बरकरार रही तो सारा संसार ही आपका है। इसलिए हमें धार की जरूरत है, सतत् सान से ताजा होती धार चाहे; हमें कोई भी कुर्बानी क्यों न देनी पड़े।"[6]

संजीव 'धार' उपन्यास में आदिवासी चेतना के साथ–साथ चेतना का प्रबल स्वर भी मैना के माध्यम से उठाते हैं। मैना एक हिम्मती, आत्मविश्वासी, जुझारू आदिवासी स्त्री है जो पुरुषवादी व्यवस्था को ध्वस्त करती हुई दिखती है। वह स्त्री सुलभ गुणों यथा दया, प्रेम, ममता आदि से युक्त होकर भी अन्याय शोषण का डटकर मुकाबला करती है। वह अपने समाज व बिरादरी से प्रेम करती है। यहाँ कोयलांचल में सभी दरिद्रता, भुखमरी, बेरोजगारी के शिकार हैं तथा पूँजीपतियों, उद्योगपतियों, ठेकेदारों के गुलाम बनकर सोच से लूले–लंगड़े जैसा जीवन गुजार रहे हैं। यहाँ मैना ही है जो कभी हिम्मत नहीं हारती। वह अविनाश शर्मा के जन मोर्चा के साथ मिलकर जनखदान का निर्माण करती है, जिससे सभी को सम्मानपूर्ण रोजगार मिल सके। वह भले ही अनपढ़ आदिवासी स्त्री है, परन्तु वह प्रगतिवादी विचारधारा की है। इसीलिए उसकी हिम्मत को देख कर हैदर मामा कहते हैं, "ई लंगड़ा लूला बीमार इनसानों के बीच एक तू ही तो साबुत है।"[7]

इसी प्रकार आदिवासी समाज की समस्याओं को उजागर करता संजीव का एक और उपन्यास "जंगल जहाँ शुरू होता है" का प्रकाशन सन् 2000 में हुआ। इस उपन्यास में उन्होंने बिहार के पश्चिमी चंपारण के थारु जनजाति और आदिवासी समाज की समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। यह उपन्यास अपने नाम से ही जैसे जंगल राज को परिभाषित करता है ठीक वैसे ही इस क्षेत्र की अपनी समस्याएँ हैं। यहाँ हत्या, डकैती, अपहरण, बलात्कार, फिरौती आदि जैसे गंभीर अपराध फल–फूल रहे हैं। इसका अपना एक राजनैतिक और आर्थिक कारण भी है। यहाँ की जनजातियाँ अभावों व अशिक्षा के कारण अंधविश्वास की शिकार हैं तभी तो विसराम बहू की लड़की को साँप काटने पर डॉक्टर के बजाय ओझा के पास ले जाया जाता है। यहा अलग बात है कि इस क्षेत्र में नजदीक न डॉक्टर है न अस्पताल और न ही इलाज के लिए पैसे। "लड़की मरी पड़ी थी, उस पर मंत्र पढ़ते हुए झूम रहे थे ओझा। उन्हें अभी भी विश्वास था कि वे उसे बचा लेंगे। काश, यह बच्ची पहले ही अस्पताल में ले जाई गई होती।"[8]

इस उपन्यास में संजीव यह दिखाते हैं कि अपराध और राजनीति का किस तरह गठजोड़ है। इस क्षेत्र के सांसद दूबे जी केन्द्र में मंत्री हैं, लेकिन उनके घर डकैतों का आना–जाना है। मंत्रीजी की लड़की की शादी में जहाँ चारों जोन के पुलिस अफसर आते हैं वहीं उस क्षेत्र के खूंखार डाकू बिन्द्रा, गोकुल और परसा–परशुराम भी शरीक होते हैं, क्योंकि इन्हीं के सहयोग से मंत्री जी चुनाव जीत कर मंत्रिमण्डल तक पहुँचते रहे हैं व इन्हीं के माध्यम से चुनावी फण्ड मिलता रहा है। यह बात इन डकैतों, अपराधियों को भी पता है कि इनका कोई कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि उन्हें राजनैतिक संरक्षण प्राप्त है। मंत्री जी प्रत्यक्ष रूप से जनता के समक्ष डकैतों के साथ अपने संबंध को उजागर नहीं करना चाहते। वे जानते हैं कि रंडी और गुंडों से दोस्ती रात के अँधेरे तक ही ठीक है, इसलिए वह अपनी पत्नी से नाराज होकर कहते हैं ये सब क्या करने आए हैं, इस पर उनकी पत्नी कहती है "का करने? अरे बिटिया का बियाह है, बोले पाँव पूजने आए हैं, पाँव पूज के चले जाएँगे। चार बोरा बासमती चावल, दू कनस्तर देशी घी, दू कनस्तर सरसों का तेल, चार कुंटल चीनी, पचीस–पचीस हजार रूपैया, दस–दस थान, सोने का गहना! बोले मलिकाइन घबड़ाइएगा तनिको नहीं, जो भी लगेगा, सिरिफ बता भर दीजिए। चिरई का दूध भी कहें तो!"[9]

इसी उपन्यास में संजीव ने इन दीन–दुखी आदिवासी महिलाओं की अस्मिता तथा यौन शोषण का यथार्थ चित्रण किया है। उपन्यासकार ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि आदिवासी पुरुष ही नहीं बल्कि उनकी स्त्रियाँ भी बहशीपन की शिकार होती हैं। लोग उनकी मजबूरियों का नाजायज फायदा उठाते हैं। उनका सतीत्व भंग डाकू ही नहीं पूँजीपति और पुलिस अफसर भी करते हैं। यहाँ तक कि एक आदिवासी महिला की इज्जत को एक सवर्ण महिला भी तार–तार करती है। संजीव ने एक स्त्री द्वारा दूसरी स्त्री का सतीत्व हरण दिखाकर इस विकृत समाज का एक क्रूर कटु सत्य चेहरा सामने रखा है। "पांडे और पड़ाइन ने उस औरत को हाथों से पकड़ रखा था और पांडे का साला उसे दबोचे हुए था। बाप रे! क्या एक औरत खुद अपने सामने एक दूसरी औरत का बलात्कार करवा सकती है?"[10]

अन्यत्र इसी उपन्यास में मलारी नामक एक पात्र का कुमार द्वारा सतीत्व खण्ड–खण्ड किया जाता है। संजीव ने झारखण्ड के विभिन्न अंचलों में बसे आदिवासियों को केन्द्र में रखकर 'पाँव तले की दूब' उपन्यास की रचना की। इसमें आदिवासी स्त्रियाँ एक गीत के माध्यम से चाँद देवता से अपने दुख–दर्द को व्यक्त करती हैं और उलाहना देते हुए कहती हैं–

"धीरी ओचोक–ओचोक कते खेत इग बेनाव लेत।
वीर पाकड़ माक कते खेत इग बेनाव लेत।।" [11]

इस गीत का अर्थ इस उपन्यास का नायक सुदीप्त अपने मित्र को बताता है–

"हमने पत्थर हटा–हटा के खेत बनाये,
खेत बना–बनाकर बीज रोपे धान के,
धान काट–काटकर खलिहान ले आये
और खलिहान से उठा ले गया महाजन

सीने पर पहाड़ है कब से अड़ा हुआ
ऐसे कब तक चलेगा, हे चाँदो देवता?"[12]

संजीव जी अपने इस उपन्यास में भी आदिवासी जनजातियों, दलित, दमित, मजदूरों से सहानुभूति व्यक्त करते हुए उनकी आवाज बने हैं। यहाँ उन्होंने गरीबी, भूख, अशिक्षा, बेरोजगारी, प्रदूषण, पलायन, ऊँच–नीच, भेद–भाव, अवैध खनन आदि समस्याओं को प्रस्तुत किया है। इन आदिवासियों के आर्थिक रूप से पिछड़ने के कारणों में अशिक्षा, अंधविश्वास, इनकी रूढ़ियाँ, शराब की लत आदि मुख्य है।

सुदीप्त अपने मित्र से कहता है, "आदिवासी लोगों को दो कमजोर नसें हैं– अरण्यमुखी संस्कृति और उत्सवधर्मिता। अरण्यमुखी संस्कृति उन्हें सभ्यता के विकास से जुड़ने नहीं देती और उत्सवधर्मिता इन्हें कंगाल बनाती रहती है। हण्डिया या दारु ये पिएँगे ही और हर उत्सव को मस्त होकर मनाएँगे। पढ़ाई–लिखाई से दूर रहेंगे।"[13]

आदिवासी समाज में अभी भी शिक्षा का अभाव है। वे वैज्ञानिक प्रगति से अनभिज्ञ हैं, जिस कारण उनके अंदर अंधविश्वास, जादू–टोना, भूत–प्रेत, ओझा–गुनी के प्रति गहरा विश्वास बना हुआ है। यही कारण है कि वैज्ञानिक प्रगति से भिज्ञ कालीचरण किस्सू जैसा आदिवासी पात्र भी मंत्रों के दम पर सबको अपने वश में कर लेने का दंभ भरता है।

आदिवासी क्षेत्रों में विकास के नाम पर पूँजीपति, ठेकेदार व सरकार कारखाने लगाने के लिए उनकी जमीनें कम मूल्य देकर हड़प लेते हैं, जिससे इन्हें विस्थापित होकर दर–दर भटकना पड़ता है। उनके जंगलों पर कब्जा करके उन्हें ही उसमें घुसने से रोक दिया जाता है। उन्हें जलाने के लिए लकड़ियाँ तक नहीं लेने दिया जाता। लकड़ियाँ लेते हुए पकड़े जाने पर इन्हें तरह–तरह से प्रताड़ित किया जाता है। इनको हर तरह से कंगाल बनाकर छोड़ दिया जाता है। इसी बात को फिलिप अपने भाषणों में कहता है, "यह धरती, हमारी धरती सोना उगलती है और उस सोने की धरती की हम कंगाल सन्तान हैं। प्रदेश की दो–तिहाई आय हमसे होती है और हमारी हालत न तन पर साबुत कपड़ा, न पेट में भरपेट भात, दवा–दारु, पढ़ाई–लिखाई की बात छोड़ दीजिए। बहुत पैसा दिया सरकार ने सरकार घोषणाएँ करती नहीं थकती, लेकिन हम कंगाल के कंगाल! मालो माल कोई और हो रहा है।"[14]

यह ठीक है कि अज्ञानता और अंधविश्वास के कारण ये लोग गंभीर से गंभीर बीमारी को भी झाड़–फूँक से ठीक करने में विश्वास करते हैं, अस्पताल नहीं जाते। आज भले ही अपने–आप को सभ्य कहने वाला समाज इनकी अशिक्षा, अंधविश्वास और गँवारपन का बहाना बनाकर अपनी नाकामियों को छिपाने की कोशिश करे पर यह सत्य नहीं छिप सकता कि इनकी इस दशा का एक कारण इसी सभ्य वर्ग की स्वार्थपरता भी है।

इसी उपन्यास में जब सुदीप्त, माझी हड़ाय की लकवा ग्रस्त बेटी को अस्पताल ले जाने की सलाह देता है तो माझी ने इस भ्रष्ट तंत्र की पोल खोलते हुए कहता है, "हुआँ कौन सुनता? ले गए थे। डाँट के भगा दिया डागटर ने। तब से झड़ाई फुँकाई होता है।"[15]

संजीव ऐसे कथाकार हैं जो हासिए पर पड़े लोगों, दलित, दमित, आदिवासियों, मजदूरों आदि से सहानुभूति रखते हैं तथा इनके संघर्ष चेतना को स्वर प्रदान करते हैं। संजीव उनकी पीड़ा को बहुत करीब से महसूस करते हैं। उनकी हर छोटी–बड़ी समस्याओं पर संजीव की पैनी नजर होती है और उसके निवारण के लिए संजीव के हृदय की बैचेनी उनके साहित्य में स्पष्ट महसूस की जा सकती है।

संदर्भ

1. समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श, सं० डॉ० शिवाजी देवरे, डॉ० मधु खराटे, पृ० 34
2. वही, पृ० 35
3. आदिवासी साहित्य विविध आयाम, सं० डॉ० रमेश सम्भाजी कुरे, पृ० 210
4. कथाकार संजीव– सं० काशिद गिरीश, पृ० 103
5. 'धार'– संजीव, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 54
6. वही, पृ० 157
7. 'धार'– संजीव, राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 61
8. जंगल जहाँ शुरु होता है– संजीव, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 21
9. वही, पृ० 34
10. वही, पृ० 92
11. पाँव तले की दूब– संजीव, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, पृ० 53
12. वही, पृ० 53
13. वही, पृ० 14
14. वही, पृ० 93
15. वही, पृ० 166